औपनिवेशिक भारत और प्रतिबंधित साहित्य

आशुतोष कुमार

विचार व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मनुष्य के जन्मजात अधिकार हैं, किंतु राज्य की स्थापना ने मनुष्य के इन नैसर्गिक अधिकारों की एक सीमा निर्धारित कर दी है। वह विचार व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को वहीं तक उचित मानता है जहाँ तक उनसे उसके अस्तित्व को ख़तरा नहीं होता। भारत में अंग्रेज़ी शासन का स्वरूप राज्य की इसी अवधारणा से तय होता था। नरेंद्र शुक्ल की पुस्तक *ब्रिटिश राज और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता : औपनिवेशिक भारत में प्रतिबंधित साहित्य, 1907–1935* के बीच भारत में प्रकाशित और प्रसारित विविध सामग्री पर लगाए गये प्रतिबंधों की विवेचना प्रस्तुत करती है। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में जब राज्य के जनविरोधी कार्य-कलापों तथा आज़ादी के विमर्शों ने जन-मानस को उद्वेलित करना शुरू किया, तो अंग्रेज़ी शासन को अपने अस्तित्व पर ख़तरा दिखाई देने लगा। फलत: ऐसे विमर्शों से संबंधित लेखन को क़ानून बना कर प्रतिबंधित किया गया। लेखक ने तर्क दिया है कि 'औपनिवेशिक भारत में प्रेस और मुद्रित साहित्य द्वारा लड़ी जाने वाली लड़ाई इकहरी न हो कर दुहैरी लड़ाई थी। एक तरफ़ वह स्वयं अपनी स्वतंत्रता के अधिकार के लिए संघर्षरत थी तो दूसरी तरफ़ स्वतंत्रता संग्राम में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के विचारों को आमजन तक पहुँचाने के लिए भी संघर्ष कर रही थी।'

पुस्तक में पाँच अध्यायों के अलावा परिशिष्ट तथा आधार ग्रंथ सूची भी है जो इस विषय से संबंधित सूचनाओं तथा आगामी शोध की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है। लेखक ने पहले अध्याय 'स्वतंत्रता और प्रतिबंध' में इन दोनों अवधारणाओं को ऐतिहासिक संदर्भ में परिभाषित करते हुए प्रेस की भूमिका को भी लक्षित किया है। लेखक ने अपने विश्लेषण में दर्शाया है कि क्रांतिकारी विचारों के प्रसार में प्रेस की अहम भूमिका रही थी। लेखक के अनुसार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का विचार सर्वप्रथम भारतीय ऋषि परम्परा में देखने को मिलता है : 'संगच्छध्वम संवदध्वम सं वो मनांसी जानताम्' और 'आ नो भद्रा क्रतवो यंतु विश्वत:'। फिर भी लेखक के मुताबिक़ स्वतंत्रता के विचार पर सम्भवत: सर्वप्रथम यूनानी दर्शनिकों ने चिंतन किया। यूनान के विचारक डिमोस्थेंस (384–322 ई.पू.) के अनुसार 'व्यक्तियों के लिए बोलने की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध से बढ़ कर कोई आपदा नहीं हो सकती।' (पृ.22) ऑगस्टस पहला रोमन शासक था जिसने ऐसे प्रत्येक लिखे या कहे गये शब्द को दण्डित करने का प्रयास किया जो किसी वर्तमान क़ानून का विरोधी हो। रोमन शासकों के प्रतिबंध की नीति ने पाँचवीं से ग्यारहवीं सदी तक यूरोप में साहित्य, कला, और विज्ञान के विकास पर अंकुश लगाए रखा। इस स्थिति में बारहवीं सदी के बाद सुधार आया। किंतु 14 अगस्त, 1457 को मुद्रित दिनांक

वाली पहली पुस्तक के छपने के बाद मुद्रण-प्रविधि के रूप में दुनिया को एक ऐसा अस्त्र मिल गया जिसके ज़रिये समाज में क्रांतिकारी विचारों का प्रसार अभूतपूर्व तीव्रता से किया जा सकता था। इस संबंध में युरोपीय पुनर्जागरण की भूमिका भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी। लेखक ने इतिहासकार पैटर्सन के शब्दों का उल्लेख करते हुए कहा है पुनर्जागरण-युग में बाइबिल को स्वयं पढ़ने और उसके अर्थ को समझने-समझाने की प्रवृत्ति मज़बूत हुई जिसे रोकने में चर्च भी विफल रहा। (पृ. 29-30) लेखक ने इस अध्याय में युरोप के विभिन्न राज्यों व उनके शासकों द्वारा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाए गये प्रतिबंधों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस संबंध में फ्रांसीसी क्रांति के बाद बने पहले लिखित संविधान में नागरिकों की वैचारिक स्वतंत्रता का उल्लेख भी किया है। उल्लेखनीय है कि उक्त संविधान में चिंतन तथा विचारों के स्वतंत्र सम्प्रेषण को मानव का सर्वाधिक मूल्यवान अधिकार घोषित किया गया था। तीन सितम्बर, 1791 में लागू संविधान के प्रस्तावना के अनुच्छेद 10 के अनुसार : 'किसी व्यक्ति को उसके विचारों के लिए उत्पीड़ित नहीं किया जाएगा, यहाँ तक कि धार्मिक विचारों के लिए भी नहीं, जब तक कि उन विचारों की अभिव्यक्ति क़ानून के द्वारा स्थापित व्यवस्था को भंग न करती हो।'

ब्रिटिश राज और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता : औपनिवेशिक भारत में प्रतिबंधित साहित्य, 1907-1935 (2017)
नरेंद्र शुक्ल
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
पृष्ठ : 308, मूल्य : 626 रुपये

पुस्तक का दूसरा अध्याय 'क्रांतिकारी-गाँधीवाद दर्शन, साहित्य और प्रतिबंध' है। इस अध्याय में लेखक ने महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब, बिहार, उत्तर प्रदेश आदि प्रदेशों से छपने वाले क्रांतिकारी साहित्य व लेखकों की चर्चा की है। महाराष्ट्र में *केसरी, काल* और *बिहारी* जैसे पत्रों के सम्पादकों यथा बाल गंगाधर तिलक तथा शिवराम महादेव परांजपे को जेल की सज़ा हुई, क्योंकि उन्होंने हिंसक घटनाओं के समर्थन में लेख प्रकाशित किये थे। लेखक ने सिडिशन कमेटी (1918) का हवाला देते हुए कहा है कि रैंड तथा आयर्स्ट नामक अंग्रेज़ अधिकारियों की हत्या के पीछे हिंदू-धर्म की पुनर्स्थापना का विचार सक्रिय था। इसके पीछे बतौर पृष्ठभूमि यह दलील भी दी है कि औपनिवेशिक प्रशासन ने चितपावन ब्राह्मणों के राजनीतिक महत्त्व पर आघात किया था इसलिए वे अंग्रेज़ अधिकारियों की हत्या के ज़रिये सत्ता से प्रतिशोध लेना चाहते थे। (पृ. 46) लेखक ने बिना किसी उद्धरण तथा प्रमाण के लिखा है कि महाराष्ट्र में विनायक सावरकर तथा गणेश दामोदर सावरकर ने राजनीतिक हत्याओं को मज़बूत सांगठनिक स्वरूप दिया था। पंजाब में लाला लाजपत राय तथा अजीत सिंह आदि ने भी अंग्रेज़ी सरकार के ख़िलाफ़ भड़काऊ लेख लिखे। अजित सिंह के लेख भारतीय सिपाहियों को अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह के लिए उकसाते थे। अजीत सिंह की पुस्तकें जनता के बीच काफ़ी लोकप्रिय हुईं। उनकी पुस्तकों की प्रसिद्धि का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि 1908 में उन्हें इन पुस्तकों से 900 रुपये का लाभ हुआ था। बंगाल के क्रांतिकारियों— बरींद्रकुमार घोष, हेमचंद्र दास तथा उल्लासकर दत्त ने एक पर्चे में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ मुहिम शुरू करने का आह्वान किया था। 1908 में लिखे इस पर्चे का शीर्षक था 'बंदे मातरम्'। शुक्ल ने ऐसी अनेक समितियों का ज़िक्र किया है जो क्रांतिकारी थीं और ब्रिटिश विरोधी आंदोलन का प्रतिनिधित्व करती थीं। ब्रिटिश हुक़ूमत ने वैसी हर

पुस्तक, पर्चे, कविता, गीत आदि को प्रतिबंधित करने का प्रयास किया जिनमें अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का आह्वान किया जाता था।

लेखक के अनुसार गाँधी के भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में आने से पहले लगभग सारे आंदोलन हिंसात्मक गतिविधियों पर बल देते थे। गाँधी ने ऐसी गतिविधियों के सामने अहिंसक आंदोलन का विकल्प रखा। फलतः असहयोग, ख़िलाफ़त, स्वदेशी तथा सविनय अवज्ञा आदि जैसे आंदोलनों में अहिंसा केंद्रीय तत्त्व के रूप में परिलक्षित हुई। यद्यपि गाँधी के नेतृत्व में होने वाले आंदोलन पूरी तरह अहिंसक रहे, किंतु अंग्रेज़ सरकार गाँधी जी को केंद्र में रख कर लिखे गये गीत, कविता, लेख या पुस्तकों पर टेढ़ी नज़र रखती थी। इसलिए बहुत-सी ऐसी रचनाओं को भी सरकारी प्रतिबंध का सामना करना पड़ा। इस प्रसंग में चरखे को केंद्र में रख कर लिखी गयी इस कविता का उल्लेख किया जा सकता है : 'चला दो चरखा हर एक घर में। ये चर्ख तब तुम हिला सकोगे।' राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के साथ ही आम जन में गाँधी के प्रति विश्वास बढ़ता गया और इस तरह गाँधी पहले 'महात्मा' फिर 'भगवान' बन गये : 'इसी देश को मेटने आये त्रास, वह केवल हैं मोहन दास। वह चक्र सुदर्शन धारी थे, तो यह भी तकली धारी हैं।' भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान गाँधी की लोकप्रियता इतनी व्यापक थी की उनके लिए कजरी, होली आदि जैसे गीत तक गाये जाने लगे। उदाहरण के तौर पर यह गीत द्रष्टव्य है : 'भारत बीच गाँधी खेलत होरी, कोई सखी झोरी में रंग धोरी लावे।' गाँधी का कांग्रेस के कार्यकर्ताओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। फलतः प्रांतीय समितियों ने कांग्रेस के विचारों के प्रचार-प्रसार हेतु अनेक पत्रों का प्रकाशन शुरू किया। ब्रिटिश सरकार ने ऐसे कई पत्रों और प्रेस पर प्रतिबंध लगाए। कई सम्पादकों पर जुर्माना तक लगाया गया।

शुक्ल के अनुसार 1926 से 1935 के बीच क्रांतिकारी साहित्य की दूसरी लहर देखने को मिलती है। जलियाँवाला बाग़ हत्याकाण्ड ने भारतीयों को झकझोर कर रख दिया था। फलतः प्रतिरोध की लहर क्रांतिकारियों के दिलों में थी। जलियाँवाला बाग़ हत्याकाण्ड पर अनेक क्रांतिकारी गीत और कविताएँ लिखी गयीं जिन्हें सरकार ने तत्काल प्रतिबंधित कर दिया। इस दौरान अनेक क्रांतिकारियों, शहीदों की तस्वीरें तथा प्रशंसा के गीत प्रकाशित किये गये। इन सभी अंकों को ब्रिटिश सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया। भगत सिंह की फाँसी के बाद उन पर जो पुस्तकें प्रकाशित की गयीं, वे भारतीयों को झकझोर देने वाली साबित हुईं। 5 जून, 1931 को अधिसूचना जारी कर इन सभी को प्रतिबंधित कर दिया गया। पंजाब इंतकामी पार्टी ने 'ख़ून का बदला ख़ून' शीर्षक से एक पोस्टर जारी कर ब्रिटिश सरकार को समस्त भारत से जला डालने का आह्वान किया। इस पोस्टर को तत्काल सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया।

तीसरे अध्याय में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर साम्यवादी आंदोलन के प्रभाव का ज़िक्र किया गया है। 1907 से 1935 के दौरान अनेक संगठन अस्तित्व में आये जो रूसी क्रांति से प्रभावित थे। इस दौरान रूसी क्रांति के विचारों को अनेक भारतीयों ने अध्ययन किया ओर उसे अपने जीवन में अपनाया। सरकारी छापों के दौरान अनेक युवकों के पास रूसी क्रांतिकारी साहित्य पाया गया था जिसे सरकार ने ज़ब्त कर लिया। कम्युनिस्ट विचारधारा से प्रभावित होकर एम.एन. राय ने कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया की स्थापना की। उन्होंने कम्युनिस्ट इंटरनैशनल में भी भाग लिया तथा भारत में आमूलचूल सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की बात की। राय द्वारा जारी किये गये लेख व पर्चों को ब्रिटिश सरकार ने ख़तरनाक बताया और उन्हें प्रतिबंधित कर दिया। शुक्ल ने इस अध्याय में उन सारे क्षेत्रीय नेताओं तथा समितियों का ज़िक्र किया है जो साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित थे तथा राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान सक्रिय थे। इन क्रांतिकारियों ने कई षड्यंत्रों को भी अंजाम दिया जिसमें कानपुर षड्यंत्र, पेशावर षड्यंत्र, मेरठ काण्ड आदि महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय कम्युनिस्टों को अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक मदद भी प्राप्त होने लगी थी जिससे वे अपने विचारों को जन-जन तक प्रसार कर सकते थे। साम्यवादी विचारों का

प्रभाव किसानों, मज़दूरों व ग़रीबों में काफ़ी तेज़ी से फैला जिससे ब्रिटिश सरकार को भारत में साम्यवाद के प्रसार का ख़तरा महसूस होने लगा। फलत: क्रिमिनल लॉ अमेंडमेंट एक्ट के तहत भारत में सभी साम्यवादी गतिविधियों को अवैध घोषित कर दिया गया। हालाँकि फिर भी भूमिगत या खुले तौर पर साम्यवादी आंदोलन प्रतिबंध के बावजूद चलता रहा।

चौथे अध्याय में शुक्ल ने प्रतिबंधित एवं विवादित सिनेमा का ज़िक्र किया है जिसे एक अहम अध्याय माना जा सकता है। इस अध्याय की महत्ता इस बात में है कि इसमें अभिव्यक्ति की नयी विधा पर ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण का विश्लेषण किया है। सिनेमा एक नयी विधा के रूप में बीसवीं सदी के प्रारम्भ में उभरी और इसे भी क्रांतिकारी विचारों को जन तक पहुँचाने का माध्यम बनाया गया। किंतु, सरकार ने समय-समय पर नये-नये नियम व क़ानूनों द्वारा इसे भी प्रतिबंधित किया। यद्यपि भारत में सिनेमा के आगमन के प्रारम्भिक वर्षों में सरकारपरस्त फ़िल्में प्रदर्शित की गयी जिनमें *जुबली ऑफ़ क्वीन विक्टोरिया, दिल्ली दरबार ऑफ़ लॉर्ड कर्ज़न* (1903), *रॉयल विज़िट टु कलकत्ता* (1906), *एट द कोंवकेशन, जॉर्ज पंचम* आदि प्रमुख थीं, किंतु भारतीय फ़िल्मकारों तथा फ़ोटोग्राफ़रों में कुछ लोग ऐसे भी थे जो राष्ट्रवादी गतिविधियों में रुचि दर्शाते हुए उसी तरह की विषय-वस्तुओं को कैमरे में क़ैद कर रहे थे। हरिश्चंद्र भटवड़कर, हीरालाल सेन तथा ज्योतिषी सरकार उनमें से एक थे। भटवड़कर ने राष्ट्रीय गौरव के विषयों को अपने कैमरे में क़ैद किया। किंतु फिर भी 1913 में *राजा हरिश्चंद्र* फ़िल्म के आने से पहले भारत में फ़ीचर फ़िल्में नहीं बन पाई थीं। 1913 से 1917 के दौरान दादा साहब फालके ने लगभग 23 फ़िल्में बनाईं जिनकी विषय वस्तु धार्मिक-नैतिक थी।

शुक्ल के अनुसार ऐसी फ़िल्मों के बनाने के पीछे भारतीयों के साहस और संघर्षों के चरित्रों को एक ऐसे समय में प्रस्तुत करना था जब स्वशासन की माँग ज़ोरों पर थी और प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान कई ऐसी फ़िल्मों को भी दर्शाया गया जो ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध थीं। फलत: ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन एक तरफ़ ब्रिटिश शासन की ख़ूबियों वाला फ़िल्में प्रदर्शित करना शुरू किया तो वही दूसरी तरफ़ सिनेमा के प्रतिबंध संबंधी नियम बनाए। उदाहरण के लिए शुक्ल ने 2 दिसम्बर, 1914 के उस पत्र का ज़िक्र किया है जिसमें भारत के गृह सचिव ने एक पत्र द्वारा सिनेमा पर नियंत्रण से संबंधित वर्तमान स्थिति से भारत-सचिव को अवगत कराया था। (पृ. 134) इसी क्रम में 1918 में सिनेमेटोग्राफ़ एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार आपत्तिजनक फ़िल्मों का प्रदर्शन ग़ैर-क़ानूनी घोषित किया गया तथा उसके स्वामी व प्रदर्शन हेतु स्थान देने वाले को दण्डित करने का प्रावधान किया गया। इसके अलावा इसके तहत 1920 तक चार सेंसर बोर्ड— बम्बई, कलकत्ता, मद्रास एवं रंगून

जलियाँवाला बाग़ हत्याकाण्ड पर अनेक क्रांतिकारी गीत और कविताएँ लिखी गयीं जिन्हें सरकार ने तत्काल प्रतिबंधित कर दिया। इस दौरान अनेक क्रांतिकारियों, शहीदों की तस्वीरें तथा प्रशंसा के गीत प्रकाशित किये गये। इन सभी अंकों को ब्रिटिश सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया। भगत सिंह की फाँसी के बाद उन पर जो पुस्तकें प्रकाशित की गयीं, वे भारतीयों को झकझोर देने वाली साबित हुईं। 5 जून, 1931 को अधिसूचना जारी कर इन सभी को प्रतिबंधित कर दिया गया। पंजाब इंतकामी पार्टी ने 'ख़ून का बदला ख़ून' शीर्षक से एक पोस्टर जारी कर ब्रिटिश सरकार को समस्त भारत से जला डालने का आह्वान किया। इस पोस्टर को तत्काल सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया।

भी गठित किये गये। ये बोर्ड न केवल भारतीय फ़िल्मों की जाँच व प्रमाणन का कार्य करते थे अपितु बाहर से आने वाली फ़िल्मों की भी जाँच करते थे। 1916 में ब्रिटिश सेंसर बोर्ड ने फ़िल्मों की जाँच के लिए 43 बिंदु निर्धारित किये थे, वहीं 1919 तक यह संख्या 67 हो गयी। हालाँकि 1921 में यह संख्या 38 रह गयी। इस अध्याय में शुक्ल ने सिनेमा पर प्रतिबंध से संबंधित विभिन्न प्रांतीय सरकारों के सुझावों तथा रिपोर्टों का भी विश्लेषण किया है और इस संकट को रेखांकित किया है कि केंद्रीय सेंसर बोर्ड की अनुपस्थिति में कोई सिनेमा एक प्रांत में प्रतिबंधित कर दी गयी तो दूसरे प्रांत में उसे प्रदर्शन की छूट दे दी गयी। केंद्रीय सेंसर बोर्ड एक विवादास्पद विषय बन गया जहाँ कई प्रांतों ने इसके बनाए जाने का विरोध किया।

पाँचवें अध्याय में शुक्ल ने एक अन्य अहम विषय 'साम्प्रदायिक लेखन और प्रतिबंध' का अध्ययन प्रस्तुत किया है। शुक्ल के अनुसार बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही साम्प्रदायिक सोच रखने वालों ने प्रेस का उपयोग हिंदू बनाम मुस्लिम विवाद खड़ा करने में किया। कई हिंदू-मुस्लिम संगठनों ने साम्प्रदायिकता के ज़हर को फैलाया। उदाहरण के लिए आर्य समाज, मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा आदि संगठनों ने स्थानीय प्रकृति के धार्मिक सांस्कृतिक मुद्दों से राजनीतिक, आर्थिक, भाषाई, क्षेत्रीय अस्मिता आदि से जुड़े प्रश्नों को जोड़ा और दोनों समुदायों के बीच विवाद व संघर्ष को जन्म दिया। शुक्ल के अनुसार एक ओर जहाँ राष्ट्रीय आंदोलन अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ था वहीं साम्प्रदायिक आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर करता था। गौ-हत्या के नाम पर होने वाले दंगों ने भारत में एक उथल-पुथल की स्थिति पैदा कर दी। फलत: साम्प्रदायिक लेखन को प्रतिबंधित करना आवश्यक हो गया। 1924 में सरकार ने विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों को निर्देश दिये की दो समुदायों के बीच घृणा पैदा करने वाले साहित्य लिखने वालों के ख़िलाफ़ भारतीय दण्ड संहिता की धारा 153-ए के तहत कार्रवाई की जा सकती है।

शुक्ल ने इस अध्याय में हिंदू तथा मुस्लिम धर्मों से जुड़ी विभिन्न साम्प्रदायिक लेखों, पुस्तकों पर औपनिवेशिक सरकार के अधिकारियों व विधिक सलाहकारों के तर्कों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है और स्पष्ट किया है कि कैसे यह साम्प्रदायिकता भारत के विभाजन को जन्म देती है और 1947 में दो मुल्क जन्म लेते हैं।

शुक्ल के शोध का सबसे अहम पक्ष अभिलेखागार से जमा किये गये दस्तावेज़ हैं। इस शोध में शुक्ल ने उन्हीं दस्तावेज़ों को अपने विश्लेषण व विवरण का आधार बनाया है। इतिहास लेखन में प्राथमिक स्रोतों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है जिसके लेखक ने अपनी पुस्तक में बख़ूबी प्रयोग किया है। इस पुस्तक की प्रासंगिकता इस बात में भी निहित है कि इसे हिंदी में लिखा गया है। हिंदी में इस तरह के शोध बिरले ही देखने को मिलते हैं। हालाँकि इन ख़ूबियों के बावजूद इस शोधपरक पुस्तक में कई कमियाँ हैं। उम्मीद की जा सकती है कि लेखक इसके परिष्कृत रूप को प्रकाशित करेंगे। उदाहरण के लिए लेखक ने ज़्यादा हिस्सा विवरण प्रस्तुत करने में लगाया है, जबकि विश्लेषण किसी भी शोध का अहम पक्ष होता है। प्रतिबंधित साहित्य पर प्रकाशित पहले की पुस्तकों से यह पुस्तक किन रूपों में भिन्न है तथा कैसे उस शोध को आगे बढ़ाती है, इसका ज़िक्र न के बराबर है। फिर भी यह पुस्तक भारत में ब्रिटिश शासन के ऐसे पक्ष को उजागर करती है जिसका इतिहासकारों ने अभी तक उचित संज्ञान नहीं लिया है।